

# 1935 का भारत सरकार अधिनियम: नयी प्रतिक्रियावादी शक्ति को प्रविष्ट कराने का प्रयास

डॉ० अमृता कुमारी

## सारांश

1935 के अधिनियम की एक अन्य विचित्रता थी पृथक निर्वाचन प्रणाली जिसे अब अधिक विस्तृत रूप में लागू किया गया। साम्प्रदायिकता के वृक्ष को बढ़ने का और अधिक अवसर दिया गया। देशी रियासतों के शासकों को प्रतिनिधि मनोनीत करने का अधिकार देकर उनकी जनता को उचित अधिकार से वंचित किया गया। संघीय पद्धति का आधारभूत तत्व एक स्वतंत्र और निष्पक्ष न्यायपालिका होती है। यह व्यवस्था भी इस प्रस्तावित संघ में नहीं थी। संघ में संघीय न्यायालय के निर्णय अन्तिम होते हैं और उपरोक्त देश में अपील का अन्तिम स्थिति सर्वोच्च न्यायालय होता है, किन्तु इस अधिनियम द्वारा भारतीय संघीय न्यायालय को यह स्थिति प्रदान नहीं की गई एवं उसके निर्णय के विरुद्ध प्रिवी कौंसिल में अपील की जा सकती थी।

1935 का भारत सरकार अधिनियम ब्रिटिश साम्राज्यवाद का अन्तिम राजनीतिक उपहार है। वास्तव में, सबसे महत्वपूर्ण बात यही है कि इसके प्रथम भाग के सर्वप्रमुख प्रावधान क्रियान्वित नहीं हो पाये, यद्यपि ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के एक प्रभावशाली वर्ग ने इसे “स्वायत्तता शासन की वास्तविक सिद्धि” कहा एवं कुछ उदारवादी भारतीय नेताओं ने इसे ‘भारत का नया संविधान’ कहते हुए इसकी प्रशंसा भी की। ब्रिटिश संसद ने इसे 1935 में पारित किया, किन्तु इसके प्रान्तीय उपबन्धों का क्रियान्वयन दो वर्ष बाद ही हो सका। भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस एवं मुस्लिम लीग के नेताओं तथा देशी रियासतों के राजाओं की स्पष्ट अस्वीकृति के कारण एक अखिल भारतीय संघ की स्थापना से संबंधित उपबन्ध अक्रियान्वित ही रह गये। ध्यान देने की महत्वपूर्ण बात यह है कि इस अधिनियम के प्रान्तीय उपबन्धों के क्रियान्वयन से भारत का ऐसा राजनीतिक विकास हुआ जिसका अन्तिम परिणाम देश के दुर्भाग्यपूर्ण विभाजन में प्रकट हुआ। 1935 के बाद से भारत में राजनीतिक विकास की गति ने एक नया

मोड़ लिया। काँग्रेस में वामपन्थी तत्वों के बढ़ते हुए प्रभाव एवं मुस्लिम जनसमूह पर लीग के प्रभाव के बारे में जिन्ना के मायाजाल ने देश के दोनों प्रमुख दलों के मध्य एक गहरी खाई पैदा कर दी। रियासतों के राजाओं के आचरण एवं अपने संकीर्ण हितों के प्रति उनकी जागरूकता ने ईंधन में आग लगाने का कार्य किया। परिणामस्वरूप, प्रस्तावित अखिल-भारतीय संघ के ढाँचे की दुःखान्त दुर्गति हुई। तत्पश्चात् द्वितीय विश्व युद्ध के शुरु होते ही ब्रिटिश शासन द्वारा अपनाये गये रुख के कारण प्रान्तों में काँग्रेसी मंत्रिमंडलों के त्याग-पत्र ने इस अधिनियम के एक और महत्वपूर्ण भाग की दुर्गति कर दी। अन्त में, यह हुआ कि इस साम्राज्यवादी संविधान के निर्मातागण भी शालीन तरीके से इसका अन्तिम संस्कार करने में असमर्थ रहे।

## प्रस्तावित अखिल-भारतीय संघ: एक अवैध एवं असामान्य संघ का प्रारूप

1935 के भारत सरकार अधिनियम की प्रमुख विशेषता एक अखिल-भारतीय संघ का प्रस्ताव था जिसमें ब्रिटिश भारत के प्रान्तों का सम्मिलन अनिवार्य

राजनीति विज्ञान विभाग, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर।

था, किन्तु देशी रियासतों का सम्मिलन उनके नरेशों की इच्छा पर छोड़ दिया गया था। यह विशेषता उन विधियों एवं नियमों के पूर्णतया प्रतिकूल थी जिनके आधार पर भारत में ब्रिटिश आगमन के समय से भारत का शासन संचालित किया जा रहा था। “भारत के नये संविधान के निर्माताओं द्वारा इस आशा के साथ यह अनोखा उपहार दिया गया कि यह असामान्य संघवाद भारतीय संवैधानिक समस्या के उलझे हुए जाल का मात्र समाधान होगा। परन्तु, इस अधिनियम द्वारा प्रस्तावित संघीय पद्धति शायद ऐसी जटिल थी जैसी संघवाद के इतिहास में कभी नहीं हुई। यहाँ तक कि 1871 के जर्मन संघ का संगठन भी भारत में लागू संघ की तुलना में कम जटिल था।”

बाह्य रूप में 1935 के अधिनियम में एक संघीय पद्धति का आवश्यक तत्व केन्द्र एवं इकाइयों में शक्तियों के बीच विभाजन में निहित है। अधिनियम की सातवीं अनुसूची में तीन सूचियाँ रखी गईं। संघीय या केन्द्रीय सूची के अन्तर्गत 59 विषय थे, मुख्यतः जैसे नौसेना, थल सेना एवं वायु सेना, वैदेशिक मामले, मुद्रा एवं सिक्के, डाक व तार, टेलीफोन, बेतार, आकाशवाणी, संघीय सेवाएँ, आयात एवं निर्यात, संघीय, रेलवे, नौपरिवहन, बीमा, कॉपीराइट, व्यापारिक चिह्न, चेक, विनियम बिल, वादायत नोट, शस्त्र, विस्फोट, अफीम, व्यापारिक निगम, बैंक, सीमा शुल्क, नमक कर, निगम कर, उत्तराधिकार शुल्क, नाप तौल, कुछ मुद्रांक एवं उत्पादन कर इत्यादि। प्रान्तीय सूची के अन्तर्गत 54 विषय थे मुख्यतः जैसे सार्वजनिक शान्ति एवं व्यवस्था, न्याय प्रशासन, जेल, प्रान्तीय सार्वजनिक ऋण, सार्वजनिक निर्माण, स्थानीय स्वायत्त शासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं स्वच्छता, शिक्षा (बनारस, दिल्ली व अलीगढ़ विश्वविद्यालयों को छोड़कर), संचार व्यवस्था, जल, सिंचाई एवं नहरें, कृषि, वन, खान, मत्स्य उद्योग, प्रान्तीय व्यापार एवं उद्योग, बेरोजगारी एवं निर्धन सहायता, समितियाँ, भूराजस्व, मुद्रांक कर इत्यादि। इसके अतिरिक्त, एक समवर्ती सूची भी थी जिसमें 36 विषय थे मुख्यतः जैसे फौजदारी एवं दीवानी के कानून एवं प्रक्रिया,

साक्ष्य, शपथ, विवाह एवं विवाह विच्छेद, उत्तराधिकार एवं दत्तक, मध्यस्थता, वसीयतनामा, पंजीकरण, ट्रस्ट, समझौते, दिवालियापन, समाचार-पत्र, पुस्तकें एवं मुद्रण, प्रेस, जानवरों के प्रति क्रूरता निषेध, कारखाने, श्रमिक कल्याण, श्रमिक संघ, वृद्धावस्था पेंशन, औद्योगिक एवं श्रम विवाद, विद्युत इत्यादि।<sup>2</sup>

शक्तियों के इस औपचारिक विभाजन के अतिरिक्त यह व्यवस्था भी की गई कि अवशिष्ट शक्तियाँ गवर्नर-जनरल में निहित होंगी एवं वह स्वविवेकानुसार संघीय अथवा प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा को उन शक्तियों के प्रयोग करने का अधिकार देगा। यह व्यवस्था सामान्य संघीय व्यवस्था के लक्षणों के विपरीत थी। केन्द्रीय सूची में उल्लिखित विषयों पर केन्द्रीय व्यवस्थापिका और प्रान्तीय व्यवस्थापिका प्रान्तीय सूची के विषयों पर कानून बना सकती थी। यह व्यवस्था की गई कि यदि प्रान्तीय व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानून किसी संघीय कानून के विरुद्ध हो, तो सामान्यतया संघीय कानून ही मान्य होगा और अवरोध की सीमा तक प्रान्तीय कानून निरस्त घोषित कर दिया जायेगा। समवर्ती सूची के विषयों पर संघीय सरकार एवं प्रस्तावित अखिल-भारतीय संघ की समस्त इकाइयों को अधिकार प्राप्त थे, किन्तु यह स्पष्ट कर दिया गया कि प्रान्तों को समवर्ती सूची के किसी ऐसे विषय पर कानून बनाने का अधिकार नहीं होगा जिस पर संघीय व्यवस्थापिका कानून बना चुकी है।

इसके अतिरिक्त, संघीय व्यवस्थापिका किसी प्रान्तीय विषय पर कानून बना सकती थी यदि दो या दो से अधिक प्रान्त ऐसी इच्छा प्रकट करें, किन्तु ऐसे कानून को वह प्रान्त संशोधित या निरस्त कर सकता था जिस पर वह लागू हो। सबसे महत्वपूर्ण स्थिति यह थी कि यदि गवर्नर-जनरल युद्ध या आन्तरिक अराजकता के कारण भारत की सुरक्षा को खतरे में समझते हुए संकटकाल घोषित करे, तो संघीय व्यवस्थापिका गवर्नर-जनरल की पूर्वस्वीकृति सहित प्रान्तीय सूची के किसी भी विषय पर कानून बना सकती थी। यदि समवर्ती सूची के किसी विषय पर बनने वाला प्रान्तीय व्यवस्थापिका का कानून

गवर्नर-जनरल की अनुमति प्राप्त कर चुका है, तो वह कानून पहले संघ द्वारा निर्मित कानून के होते हुए मान्य होगा। किसी जटिल व्यवस्था में संघीय एवं प्रान्तीय व्यवस्थापिका के कानूनों में विरोध होने पर अन्तिम निर्णय गवर्नर-जनरल के पास था।

संघीय पद्धति के इस आवश्यक तत्व के अतिरिक्त 1935 के अधिनियम में दूसरा महत्वपूर्ण आवश्यक तत्व संघीय न्यायपालिका था। जैसा कि संयुक्त प्रवर समिति ने कहा, संघीय न्यायपालिका को “संविधान के व्याख्याकार एवं संरक्षण के रूप में और साथ ही संघ एवं ईकाइयों के मध्य उत्पन्न होने वाले विवादों के निर्धारण हेतु एक न्यायाधिकरण के रूप में भी कार्य करना है।” केन्द्र व प्रान्तों या प्रान्तों के बीच होने वाले संवैधानिक विवादों का निर्णय इसी अदालत के मूल क्षेत्राधिकार में रखा गया।<sup>3</sup>

1935 के अधिनियम का सबसे महत्वपूर्ण भाग “एक लुप्त आदर्श” के रूप में रह गया क्योंकि यह अस्तित्व में नहीं आया, यद्यपि तीनों गोलमेज सम्मेलनों एवं ब्रिटिश संसद की समिति की बैठकों में भारत के लिये इस नये संविधान के निर्माण में काफी परिश्रम किया गया। ब्रिटिश राजनीतिक मस्तिष्क द्वारा उत्पन्न एक महान् संवैधानिक योजना का पाठ्य भारतीय नेताओं के हर वर्ग को सन्तुष्ट करने में असफल रहा। थोड़े से समय के भीतर यह स्पष्ट हो गया कि अधिनियम द्वारा जिस अखिल-भारतीय संघ की व्यवस्था की गई एवं जिसने लगभग पाँच वर्षों की प्रसव पीड़ा के उपरान्त जन्म लिया एक मृत शिशु का जन्म मात्र सिद्ध हुआ। “इस विस्तृत रूप में निर्मित प्रारूप के दुर्भाग्य के लिये भारत में कोई आँसू तक नहीं बहाया गया।”<sup>4</sup> इसके पीछे मुख्य कारण यही था कि इस अखिल-भारतीय संघ की प्रस्तावित योजना में कुछ ऐसी महत्वपूर्ण कमियों एवं असामान्यताएँ थीं जो सामान्यता संघ में नहीं पाई जाती है।

प्रथम, इस योजना को संघ कहा गया, पर वह संघ के वास्तविक अर्थ के प्रतिकूल थी। संघीय पद्धति वह होती है जिसमें शासन की शक्तियाँ एक मान्य

अधिकारी द्वारा पूरे देश की सरकार एवं देश के अन्य भागों की सरकारों के मध्य इस तरह विभाजित होती है कि प्रत्येक सरकार अपने क्षेत्र में वैधानिक रूप में स्वायत्त हो। विशेष रूप में, देश की व्यवस्थापिका एवं प्रान्त की व्यवस्थापिकाओं की शक्तियाँ सीमित होती है। “एक सरकार दूसरी सरकार के अधीन नहीं होती। दोनों ही सहयोगी होती हैं।” यदि भारत के लिये प्रस्तावित संघीय पद्धति का परीक्षण इस दृष्टिकोण से किया जाए, तो हम पाते हैं कि उसमें केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों के मध्य समन्वय की कोई स्थिति नहीं थी। संघवाद का नाम “पूर्णतया एक अशुद्ध नामाकरण था-संगठन में कुछ विशेष प्रतिक्रियावादी तत्वों को शामिल करके, एक स्वेच्छाचारी निरंकुशतंत्र को, विश्लेषित करने की भाषाई चाल खेली गई थी।”<sup>5</sup>

द्वितीय, संघीय पद्धति में यह आवश्यक होता है कि प्रभुसत्ता उसी राज्य में निहित हो अर्थात् राज्य एक सम्प्रभुता सम्पन्न हो जिसके ऊपर देश के आधारभूत कानून के रूप में संविधान के अतिरिक्त कुछ और न हो। जब हम 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत प्रस्तावित संघ को देखते हैं, तो हम यह पाते हैं कि इसमें प्रभुसत्ता निहित नहीं थी। न तो केन्द्र और न ही प्रान्त अर्थात् ईकाइयों को सर्वोच्च सत्ता का कणमात्र प्राप्त था। लन्दन से नियुक्त ब्रिटिश गवर्नर-जनरल निरंकुश शक्ति का प्रयोग करता हुआ ब्रिटिश शासन के प्रति उत्तरदायी था।

तृतीय, 1935 के अधिनियम में एक साथ ही दो कार्यों को पूरा करने का प्रयास किया गया- पहले यह कि तत्कालीन ब्रिटिश भारत को ग्यारह स्वायत्तशासी प्रान्तों में बाँटने का कार्य किया गया और फिर उन्हें एक ऐसे संघीय ढाँचे के अन्तर्गत जोड़ने का प्रयास किया गया जिस संघ में इच्छुक देशी रियासतें भी अपने शासकों द्वारा रखी गई तथा ब्रिटिश ताज द्वारा स्वीकृत शर्तों के आधार पर शामिल हों। देशी रियासतों को संघ में शामिल होने या उससे पृथक् रहने की पूर्ण स्वतंत्रता थी। वास्तव में, इस अधिनियम की एक अत्यंत असामान्य विशेषता यह थी कि यह संघ के समस्त प्रान्तों को अनिवार्य रूप से शामिल होना था, किन्तु देशी रियासतों

को बाँधने के मामले में प्रावधान शक्तिहीन थे। संविधान की व्यवस्था के अनुसार जबकि प्रान्त स्वचालित रूप में संघ की इकाई बन गये, यह विषय रियासतों के राजाओं की स्वेच्छा पर छोड़ दिया गया।

चतुर्थ, उपर्युक्त परिस्थितियों के परिणामस्वरूप एक और असामान्य व्यवस्था सामने आयी कि संघ के लिये विलय प्रपत्र भी समान प्रकार के नहीं थे। यह विलय प्रपत्र एक रियासत से दूसरी रियासत के लिए अलग अलग हो सकते थे, इस प्रकार यह व्यवस्था हर सम्भव रूप में अनेकानेक समझौता या अनुबंध पत्र की स्थिति उत्पन्न कर सकती थी। इस प्रकार की अवस्था के परिणामस्वरूप “संवैधानिक आलेखों” की विविधताओं की सम्भावना थी जो इस संघीय पद्धति की अनोखी विशेषता होती। संघीय शासन का यह सामान्य सिद्धान्त संघीय सरकार को संघ की समस्त इकाईयों के प्रति समान शक्ति का प्रयोग करना चाहिए केवल प्रान्तों पर ही लागू होती, उन देशी रियासतों पर नहीं जो संघ के सदस्य थे।<sup>6</sup>

पाँचवें, देशी रियासतों को दिये गये अनुचित महत्व का कुप्रभाव केन्द्रीय व्यवस्थापिका के संगठन पर भी पड़ा। सामान्यतया संघीय व्यवस्था के अन्तर्गत केन्द्रीय व्यवस्थापिका के द्वितीय सदन में सभी इकाईयों को समान प्रतिनिधित्व दिया जाता है जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रत्येक राज्य एवं स्विटजरलैंड के प्रत्येक कन्टन को राष्ट्रीय संसद के द्वितीय सदन में दो-दो प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है। इसके विपरीत, इस अधिनियम ने देशी रियासतों को प्रान्तों की अपेक्षा अधिक एवं उनकी जनसंख्या के अनुपात से भी अधिक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया। इतना ही नहीं, जबकि केन्द्रीय व्यवस्थापिका के लिये प्रान्तीय प्रतिनिधि निर्वाचित होते थे, रियासतों को मनोनीत प्रतिनिधि भेजने की व्यवस्था की गई। इस प्रकार, संघीय व्यवस्थापिका का संगठन प्रजातंत्रीय एवं निरंकुशतंत्रीय तत्वों का एक विचित्र मिश्रण था।

छठे, शक्तियों का विभाजन भी अत्यंत दोषपूर्ण था। यद्यपि भारत के संवैधानिक विकास के इतिहास में

प्रथम बार इस प्रकार शक्ति विभाजन की विस्तृत व्यवस्था लागू की गयी। बड़े महत्व के सभी विषय संघीय सरकार को दिये गये और अवशिष्ट शक्तियाँ न तो प्रान्तों को दी गई और न ही केन्द्र को (जैसा कनाडा में है), बल्कि ये शक्तियाँ गवर्नर-जनरल को दी गईं जो अपने विवेकानुसार केन्द्रीय व्यवस्थापिका एवं कुछ विषयों में प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं को ऐसे किसी विषय पर कानून बनाने का अधिकार दे सकता था जो तीनों में से किसी सूची में शामिल न हो। आलोचनात्मक दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि इन तीनों सूचियों में शक्तियों का विभाजन अद्वितीय था और संघीय सिद्धान्तों के क्रियान्वयन में उसने एक विचित्र मिसाल प्रस्तुत की।

सातवें, इकाईयों की स्वायत्तता संघीय व्यवस्था का मुख्य सिद्धान्त है। 1935 के अधिनियम द्वारा “प्रान्तीय स्वायत्तता” की व्यवस्था की गयी, किन्तु भारतीय प्रान्तों की स्थिति स्वायत्तपूर्ण नहीं थी एवं प्रान्तीय स्वायत्तता के व्यावहारिक क्रियान्वयन ने यही प्रदर्शित किया कि मंत्रियों को कठिन परिस्थितियों के अन्तर्गत कार्य करना पड़ा। शासन के अघ्यक्ष के पास स्वविवेक प्रयोग के इतने अधिक विस्तृत अधिकार थे कि मंत्रियों की स्वायत्तता समाप्त हो गई। एक अंग्रेजी लेखक का यह दृष्टिकोण अवास्तविक है कि भारतीय प्रान्तों ने उसी प्रकार के विधायकी एवं कार्यपालकीय स्वायत्तशासन का उपभोग किया जैसा ऑस्ट्रेलियाई या अमेरिकी संघ के राज्यों के पास है।

आठवें, संघीय व्यवस्था में न केवल इकाईयों की स्वायत्तता आवश्यक है वरन् इसमें केन्द्र में एक उत्तरदायी शासन का होना भी अनिवार्य है। प्रान्तीय द्वैध शासन को केन्द्र पर लागू करने की विचित्र पद्धति ने प्रस्तावित संवैधानिक सुधारों की मूल भावना को ही ऋ कर दिया। गवर्नर-जनरल पर प्रभावशाली नियंत्रण की स्थापना के लिये संघीय व्यवस्थापिका को कोई शक्ति प्राप्त नहीं थी। अतः गवर्नर-जनरल जब चाहे निरंकुश तरीके से कार्य कर सकता था। इसी कारण, केन्द्रीय व्यवस्थापिका में एक विरोधी नेता एवं महान् उदारवादी

भूलाभाई देसाई ने दृढ़तापूर्वक कहा कि प्रस्तावित सुधारों में केन्द्र के पास कोई वास्तविक शक्ति नहीं है। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने इस अधिनियम को प्रतिबन्धों का चार्टर कहा।

नवें, लंदन-स्थित भारत मंत्री के प्रतिनिधि के रूप में भारत में कार्य करने वाले गवर्नर-जनरल की स्थिति सम्पूर्ण में शक्तिशाली थी जिसके कारण अखिल-भारतीय संघ की आत्मा ही नष्ट हो गई। भारतीय प्रशासन के मुख्य अधिकारी (समस्त गवर्नर एवं भारतीय सिविल सेवा के सदस्य) गवर्नर-जनरल के आदेशों के अनुसार कार्य करते थे। इतना ही नहीं, अधिनियम की धारा 93 के अन्तर्गत वह संविधान के क्रियान्वयन को रोककर स्वयं समस्त शक्तियाँ ग्रहण कर सकता था। 1935 के अधिनियम का वास्तविक उद्देश्य भारतीयों को उत्तरदायी शासन प्रदान करना नहीं था वरन् ब्रिटिश उपनिवेशवाद की आधारशिला को नष्ट किये बिना भारत के उग्र राष्ट्रवादियों को संतुष्ट करने का प्रयास मात्र था। कीथ जैसे ब्रिटिश लेखक ने यह स्वीकार किया, “संघीय व्यवस्था ऐसी है जिससे किसी को सन्तोष मिलना कठिन है।”<sup>8</sup> दसवें, जबकि संघीय शासन में संविधान में संशोधन करने का अधिकार संघीय व्यवस्थापिका में निहित होना चाहिए, अधिनियम द्वारा यह अधिकार ब्रिटिश संसद के पास सुरक्षित रखा गया।

### निष्कर्ष:

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि 1935 के अधिनियम ने एक अत्यंत अस्पष्ट संघीय पद्धति का ढाँचा प्रस्तुत किया जो न तो एकात्मक था, न संघात्मक था और न ही यह दोनों का सुन्दर मिश्रण था। यह 1871 के शाही जर्मन संघ से भी निकृष्ट था जिसे लावेल ने “एक शेर, आधे दर्जन लोमडियाँ एवं बीस चूहों का” एक सम्मिलन कहा। यहाँ तक कि सैमुएल होर जैसे अंग्रेज नेता ने भी यह स्वीकार किया कि दूसरे संघों की तुलना में इस संघ में अधिक विसंगतियाँ थीं। प्रस्तावित संघ विसंगतियों एवं घोर विषमताओं का एक भण्डारगृह था। अतः यह केवल कागजी नमूना बनकर ही रह गया। भारत के संवैधानिक विकास में इसने

अपने बारे में यही धारणा छोड़ी कि “इसमें अधिक अव्यावहारिक संघ की युक्ति किसी चालाक मस्तिष्क द्वारा नहीं सोची जा सकती थी।” इसने हर प्रकार से प्रजातंत्रीय उपाय का निर्माण किया एवं एक निरंकुश तंत्रीय शासन-प्रणाली के समस्त दोषों को अछूता छोड़ दिया। भारत के जिन भागों में राष्ट्रीय आन्दोलन प्रगति पर था, इसने उन भागों में एक नयी प्रतिक्रियावादी शक्ति को प्रविष्ट कराने का प्रयास किया। अधिनियम ने विलय प्रपत्र के माध्यम से भारत की देशी रियासतों को विशेष सुविधाएँ प्रदान की जिनके कारण राजागण सन्तुष्ट बने रहे। उनके मस्तिष्क में यही बात घर कर रही थी कि क्या प्रस्तावित संघ में शामिल होने या पृथक् रहने से उनकी स्थिति अधिक अच्छी और सुदृढ़ बनी रहेगी। भारत में ब्रिटिश शासन की संकीर्णता इसी तथ्य में निहित है कि राजाओं के दोषपूर्ण आचरण पर रोक लगाने की बजाएँ इस अधिनियम ने उन्हें अधिकतम रूप में लाभ पहुँचाने पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया।

### सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:

1. गुरुमुख निहान सिंह, लैंडमार्क्स इन इंडियन कांस्टिट्यूशनल एंड नेशनल डेवलपमेंट, दिल्ली, 1952, पृ. 79-82.
2. जे.सी. जौहरी, भारतीय शासन और राजनीति, विशाल पब्लिकेशन, जालंधर, 1990, पृ. 69.
3. उपरोक्त.
4. एल.पी. मिश्रा, इंडियन नेशनल मूवमेंट एण्ड कांस्टिट्यूशनल डेवलपमेंट, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, 2018.
5. ए.सी. बनर्जी, इंडियन कांस्टिट्यूशनल डॉक्यूमेंट्स, वॉल्यूम-II, रूटलेज, न्यू दिल्ली, 2017, पृ. 415.
6. उपरोक्त.
7. एम.वी. पाथली, कांस्टिट्यूशनल डेवलपमेंट ऑफ़ इंडिया, 1600- 1950, दिल्ली, 1980.
8. मणिक लाल गुप्ता, कांस्टिट्यूशनल डेवलपमेंट ऑफ़ इंडिया, न्यू दिल्ली, 1983, पृ. 91.